

25/11/2025

आधुनिक युग में परंपरा और परिवर्तन का संगम

भूमिका

जब हम इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में खड़े होकर अपने समाज को देखते हैं, तो एक विचित्र द्वंद्व हमारे सामने उपस्थित होता है। एक ओर हम तकनीकी क्रांति के शिखर पर हैं, जहाँ कृत्रिम बुद्धिमत्ता और डिजिटल दुनिया हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी है। दूसरी ओर, हमारे भीतर परंपराओं, मूल्यों और सांस्कृतिक विरासत को संजोने की गहरी इच्छा भी विद्यमान है। यह लेख इसी द्वंद्व, इसी संघर्ष और इसी समन्वय की कहानी है।

परंपराओं का निरस्तीकरण: एक आवश्यक विमर्श

आधुनिकता की अंधी दौड़ में कई बार हम पुरानी प्रथाओं और परंपराओं को पूर्णतः निरस्त (abrogate) करने की जल्दबाजी में होते हैं। यह प्रवृत्ति विशेषकर युवा पीढ़ी में अधिक देखने को मिलती है, जो पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित होकर अपनी जड़ों से कटने लगती है। लेकिन क्या यह उचित है? क्या हमें हर पुरानी चीज़ को अप्रासंगिक मानकर त्याग देना चाहिए?

इस प्रश्न का उत्तर न तो पूर्णतः हाँ में है और न ही पूर्णतः ना में। हमें यह समझना होगा कि कौन सी परंपराएँ वास्तव में समय के साथ अप्रासंगिक हो चुकी हैं और कौन सी आज भी हमारे जीवन में मूल्यवान योगदान दे सकती हैं। उदाहरण के लिए, जातिगत भेदभाव, दहेज प्रथा, या बाल विवाह जैसी कुप्रथाएँ निश्चित रूप से निरस्त किए जाने योग्य हैं। ये परंपराएँ मानवीय गरिमा के विरुद्ध हैं और आधुनिक समाज में इनका कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

परंतु साथ ही, परिवार के प्रति सम्मान, बड़ों का आदर, सामूहिक उत्सवों की परंपरा, और नैतिक मूल्यों की शिक्षा जैसी चीजें आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं जितनी पहले थीं। इन्हें निरस्त करना हमारे सामाजिक ताने-बाने को कमज़ोर करने जैसा होगा।

कालबाह्यता का भ्रम

आधुनिक युग में एक विचित्र प्रवृत्ति देखने को मिलती है - हम कई बार उन चीजों को कालबाह्य (anachronism) मान लेते हैं जो वास्तव में कालातीत हैं। यह भ्रम विशेषकर तब उत्पन्न होता है जब हम बाहरी आवरण को ही सबकुछ मान लेते हैं और भीतरी सार को नहीं देख पाते।

उदाहरण के लिए, हमारे धार्मिक ग्रंथों में दी गई कई शिक्षाएँ आज भी मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र की दृष्टि से अत्यंत प्रासंगिक हैं। गीता का कर्मयोग, बुद्ध का मध्यम मार्ग, या जैन धर्म का अहिंसा सिद्धांत - ये सब आज की तनावपूर्ण जीवनशैली में शांति और संतुलन खोजने के लिए महत्वपूर्ण मार्गदर्शक हो सकते हैं।

लेकिन हम इन्हें पुराने जमाने की बातें कहकर खारिज कर देते हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण है। हमें यह समझना होगा कि प्राचीन होना और कालबाह्य होना दो अलग चीजें हैं। जो मूल्य मानव स्वभाव की गहराई से जुड़े हैं, वे कभी पुराने नहीं पड़ सकते।

साथ ही, हमें यह भी सावधान रहना होगा कि हम किसी चीज़ को केवल इसलिए महत्वपूर्ण न मान लें क्योंकि वह पुरानी है। अतीत का अंधभक्त होना उतना ही खतरनाक है जितना उसे पूर्णतः नकार देना। विवेक और संतुलन ही सही मार्ग हैं।

स्पष्ट और खुलापन: आधुनिकता की सच्ची पहचान

आधुनिक समाज की एक सकारात्मक विशेषता यह है कि यहाँ स्पष्टता और सहजता (artless) को महत्व दिया जाता है। पहले के समय में सामाजिक व्यवहार में एक प्रकार की बनावटीपन और दिखावा आवश्यक माना जाता था। लोग अपनी वास्तविक भावनाओं को छिपाकर रखते थे और सामाजिक मानदंडों के अनुसार व्यवहार करते थे, चाहे वह उनके स्वभाव के अनुकूल हो या न हो।

आज का युग इस मामले में अधिक मुक्त और ईमानदार है। लोग अपनी बात खुलकर रखते हैं, अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं, और सामाजिक दबावों के बजाय अपने विवेक से निर्णय लेते हैं। यह एक स्वस्थ परिवर्तन है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और आत्माभिव्यक्ति का सम्मान किसी भी प्रगतिशील समाज की नींव है।

लेकिन इस खुलेपन के साथ एक खतरा भी जुड़ा है - अत्यधिक व्यक्तिवाद और सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा। जब हर व्यक्ति केवल अपनी स्वतंत्रता और अपने अधिकारों की बात करने लगे और सामूहिक हित को भूल जाए, तो समाज बिखरने लगता है। इसलिए आवश्यक है कि हम व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक दायित्व के बीच संतुलन बनाए रखें।

सच्ची सहजता वह है जो ईमानदार हो लेकिन संवेदनशील भी हो, जो स्पष्ट हो लेकिन कठोर नहीं, जो मुक्त हो लेकिन उच्छृंखल नहीं।

पूर्ण और निरा: अतिवाद का खतरा

आधुनिक विमर्श में एक खतरनाक प्रवृत्ति यह है कि हम चीजों को केवल काले या सफेद रंग में देखते हैं। कोई चीज़ या तो पूर्णतः सही है या पूर्णतः गलत (arrant)। यह द्विआधारी सोच हमारे समाज को ध्रुवीकृत कर रही है।

उदाहरण के लिए, धर्म को लेकर चर्चा में हम देखते हैं कि एक पक्ष उसे पूर्णतः अंधविश्वास मानता है जबकि दूसरा पक्ष हर धार्मिक मान्यता को निर्विवाद सत्य मानने पर अड़ा रहता है। दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी हैं और समस्या का समाधान नहीं है।

वास्तविकता यह है कि अधिकांश चीजें धूसर क्षेत्र में होती हैं। धर्म में आध्यात्मिक गहराई भी है और कुछ अंधविश्वास भी। परंपराओं में सामाजिक संगठन की शक्ति भी है और कुछ रुढ़िवादिता भी। आधुनिकता प्रगति लाती है लेकिं कुछ मूल्यों का क्षरण भी करती है।

हमें इस जटिलता को स्वीकार करना होगा। हमें यह समझना होगा कि जीवन सरल समीकरण नहीं है जिसका एक निश्चित उत्तर हो। विवेक, संवेदनशीलता और खुले दिमाग से ही हम सही रास्ता खोज सकते हैं।

कठोरता बनाम लचीलापन

समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया में अक्सर कठोरता (asperity) देखने को मिलती है। जब दो विचारधाराएँ टकराती हैं, तो संघाद की जगह आरोप-प्रत्यारोप का दौर शुरू हो जाता है। परंपरावादी आधुनिकतावादियों को संस्कृतिहीन कहते हैं, जबकि आधुनिकतावादी परंपरावादियों को पिछड़ा मानते हैं।

यह कठोरता समाज के लिए घातक है। हमें यह समझना होगा कि सामाजिक परिवर्तन एक सतत प्रक्रिया है, न कि एकमुश्त क्रांति। इसमें धैर्य, समझ और परस्पर सम्मान की आवश्यकता होती है।

जो लोग परिवर्तन चाहते हैं, उन्हें यह समझना होगा कि परंपराएँ केवल रुढ़ियाँ नहीं हैं बल्कि पीढ़ियों के अनुभव और ज्ञान का संचय हैं। उन्हें सम्मानपूर्वक, धीरे-धीरे बदला जा सकता है। और जो लोग परंपराओं की रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें भी यह स्वीकार करना होगा कि समय के साथ परिवर्तन अनिवार्य है और कुछ मूल्यों को नए संदर्भ में पुनर्परिभाषित करने की आवश्यकता होती है।

संवाद, न कि संघर्ष, आगे बढ़ने का मार्ग है। कठोरता की जगह करुणा, आरोप की जगह समझ, और विभाजन की जगह समावेश - यही आधुनिक भारत की आवश्यकता है।

निष्कर्ष: समन्वय का मार्ग

अंततः, हमें यह समझना होगा कि परंपरा और आधुनिकता विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। एक स्वस्थ समाज वह है जो अपनी जड़ों से जुड़ा रहते हुए भी नए विचारों के लिए खुला है। जो अपने अतीत का सम्मान करता है लेकिन भविष्य के प्रति भी आशान्वित है।

हमें चुनिंदा रूप से परंपराओं का निरस्तीकरण करना होगा - केवल उन्हीं को छोड़ना है जो मानवीय गरिमा के विरुद्ध हैं। हमें यह समझना होगा कि क्या वास्तव में कालबाह्य है और क्या कालातीत। हमें सहजता और स्पष्टता को अपनाना होगा लेकिन संवेदनशीलता नहीं खोनी है। हमें अतिवाद से बचना होगा और संतुलित दृष्टिकोण अपनाना होगा। और सबसे महत्वपूर्ण, हमें विमर्श में कठोरता की जगह करुणा और समझ लानी होगी।

यही वह मार्ग है जो हमें एक समृद्ध, समावेशी और प्रगतिशील समाज की ओर ले जा सकता है - एक ऐसा समाज जो अपनी विरासत पर गर्व करता है और अपने भविष्य के प्रति आशान्वित है। एक ऐसा समाज जहाँ परंपरा और परिवर्तन का सुंदर संगम हो, जहाँ हर पीढ़ी अपनी पहचान बना सके और साथ ही पीढ़ियों के बीच सेतु भी बना रहे।

विपरीत दृष्टिकोणः परंपरा की आड़ में पिछड़ापन

समन्वय का भ्रमजाल

हम अक्सर "परंपरा और आधुनिकता के संगम" की बात करते हैं, लेकिन यह वाक्यांश अपने आप में एक सुविधाजनक भ्रम है। यह उन लोगों के लिए एक सुरक्षित आश्रय है जो बदलाव से डरते हैं और अपनी रुद्धिवादिता को बौद्धिक वैधता देना चाहते हैं। वास्तविकता यह है कि कई बार परंपरा और प्रगति के बीच कोई मध्यम मार्ग नहीं होता - हमें स्पष्ट चुनाव करना पड़ता है।

जब हम "संतुलन" की बात करते हैं, तो अक्सर यह केवल उन शोषणकारी प्रथाओं को बचाए रखने का एक तरीका बन जाता है जिन्हें पूर्णतः निरस्त (abrogate) कर देना चाहिए। दहेज प्रथा, जाति व्यवस्था, पितृसत्तात्मक मानसिकता - इन सबके साथ कोई "संतुलन" संभव नहीं है। ये या तो रहेंगी या जाएंगी। बीच का कोई रास्ता नहीं है।

कालबाह्यता को स्वीकार करने का साहस

हम अपनी परंपराओं को "कालातीत" बताकर उनकी स्पष्ट कालबाह्यता (anachronism) को छिपाने का प्रयास करते हैं। लेकिन ईमानदारी से देखें तो कितनी परंपराएँ वास्तव में आज भी प्रासंगिक हैं? संयुक्त परिवार की अवधारणा, जो कभी आर्थिक आवश्यकता थी, आज व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधा बनती है। विवाह को लेकर हमारे पारंपरिक दृष्टिकोण, जो माता-पिता द्वारा तय किए गए रिश्तों को महिमामंडित करते हैं, आज के युग में व्यक्तिगत पसंद और स्वतंत्रता के विपरीत हैं।

हम धार्मिक ग्रंथों में छिपे "गहरे दार्शनिक सत्य" खोजने में इतने व्यस्त रहते हैं कि उनमें मौजूद स्पष्ट भेदभावपूर्ण और अवैज्ञानिक विचारों को नजरअंदाज कर देते हैं। क्या यह बौद्धिक ईमानदारी है? या फिर यह केवल अपनी सांस्कृतिक पहचान को बचाए रखने का एक हताश प्रयास है?

सच तो यह है कि अधिकांश परंपराएँ उस समय के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों की उपज थीं। वे परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं, इसलिए उन परंपराओं को भी बदलना होगा। इसमें कोई शर्म की बात नहीं है।

सहजता का वास्तविक अर्थ

जब हम "सहजता और स्पष्टता" (artless) की बात करते हैं, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि पारंपरिक समाज में यह गुण सबसे कम था। वहाँ हर चीज नियमों, कर्मकांडों और सामाजिक अपेक्षाओं में जकड़ी थी। लोग अपनी वास्तविक भावनाओं को दबाकर रखते थे, अपने सपनों को त्याग देते थे, और "लोग क्या कहेंगे" के डर से जीते थे।

आधुनिक समाज ने पहली बार व्यक्ति को यह अधिकार दिया है कि वह अपने अनुसार जी सके। यह स्वतंत्रता, यह खुलापन, यह सहजता - यही वास्तविक प्रगति है। और जब कुछ लोग इसे "पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव" कहकर खारिज करते हैं, तो वे वास्तव में मानवीय गरिमा और स्वतंत्रता को ही खारिज कर रहे होते हैं।

परंपरा का निरा (arrant) पाखंड

आइए ईमानदार हों - परंपरा के नाम पर जो बचाया जा रहा है, वह अक्सर वर्चस्व और शोषण की व्यवस्था है। उच्च जाति के लोग "परंपरा" के नाम पर अपनी सामाजिक श्रेष्ठता बनाए रखना चाहते हैं। पुरुष "संस्कृति" के नाम पर महिलाओं पर नियंत्रण बनाए रखना चाहते हैं। धार्मिक नेता "आस्था" के नाम पर अपनी सत्ता कायम रखना चाहते हैं।

यह पूर्णतः स्वार्थपूर्ण और पाखंडपूर्ण है। परंपरा का सबसे अधिक आग्रह उन्हीं लोगों की ओर से आता है जो मौजूदा व्यवस्था में विशेषाधिकार प्राप्त हैं। वे जानते हैं कि बदलाव उनके विशेषाधिकारों को छीन लेगा, इसलिए वे "सांस्कृतिक संरक्षण" का नाटक करते हैं।

और सबसे बड़ा पाखंड यह है कि ये लोग चुनिंदा रूप से परंपरा का पालन करते हैं। उन्हें पारंपरिक पोशाक पहनने में कोई दिक्कत नहीं, लेकिन पारंपरिक जीवनशैली अपनाने में आपत्ति है। वे धार्मिक अनुष्ठान करते हैं लेकिन वैज्ञानिक सोच को अपनाते हैं। वे परंपरा की दुहाई देते हैं लेकिन आधुनिक सुविधाओं का भरपूर उपयोग करते हैं।

कठोरता (asperity) की आवश्यकता

हमें बताया जाता है कि सामाजिक परिवर्तन धीरे-धीरे, संवाद के माध्यम से होना चाहिए। लेकिन इतिहास हमें क्या सिखाता है? क्या दासता प्रथा संवाद से समाप्त हुई? क्या महिलाओं को मताधिकार विनम्र अनुरोध से मिला? क्या नागरिक अधिकार आंदोलन "धैर्य और समझ" से सफल हुआ?

नहीं। वास्तविक परिवर्तन तभी आता है जब हम अन्याय के खिलाफ कठोरता से खड़े होते हैं। जब हम स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कुछ चीजें गलत हैं और उन्हें बदलना ही होगा। "संतुलन" और "समन्वय" की बातें अक्सर यथास्थिति बनाए रखने का एक उपकरण बन जाती हैं।

हाँ, इससे असुविधा होती है। हाँ, इससे टकराव होता है। लेकिन यह आवश्यक है। जो लोग अपने विशेषाधिकार स्वेच्छा से नहीं छोड़ते, उनसे ये छीनने ही पड़ते हैं।

निष्कर्ष: प्रगति का साहस

हमें यह मानने का साहस चाहिए कि परंपराएँ हमेशा सही नहीं होतीं। हमें यह स्वीकार करने की ईमानदारी चाहिए कि हमारे पूर्वज भी गलतियाँ करते थे। और हमें यह समझने की बुद्धिमत्ता चाहिए कि बदलाव केवल आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

"परंपरा और आधुनिकता का संगम" एक खूबसूरत वाक्यांश है, लेकिन यह अक्सर वास्तविक परिवर्तन से बचने का एक बहाना बन जाता है। असली प्रगति तब होती है जब हम साहस के साथ पुराने को छोड़कर नए को अपनाते हैं, जब हम अपनी सांस्कृतिक असुरक्षा को दरकिनार करके मानवीय गरिमा और समानता को प्राथमिकता देते हैं।

हमें परंपरा के संरक्षक नहीं, बल्कि भविष्य के निर्माता बनना है। और भविष्य का निर्माण अतीत की जंजीरों को तोड़कर ही संभव है।